जैनागममें कर्मबन्ध

गुणस्थानोंकी व्यवस्था।

गोम्मटसार जीवकण्डकी गाथा तीनमें गुणस्थानोंकी व्यवस्था मोह और योगके आधारपर बतलाई गई है। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है--

आगममें संसारी जीवोंके १४ गुणस्थान निश्चित किये गये हैं—मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मलोभ, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली। इनका निर्धारण जीवमें मोहनीकर्मकी यथायोग्य प्रकृत्तियोंके उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशम और योगके सद्भाव और अभावके आधारपर होता है।

मोहनीयकर्मके दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके रूपमें दो भेद हैं। उनमें दर्शनमोहनीयकर्मके मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिके रूपमें तीन भेद हैं। चारित्रमोहनीयकर्मके कषायवेदनीय और अकषायवेदनीयके रूपमें दो भेद हैं। कषायवेदनीय कर्मके मूलतः क्रोध, मान, माया और लोभके रूपमें चार भेद हैं तथा ये चारों अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनके रूपमें चार-चार प्रकारके हैं। फलतः कषायवेदनीयकर्मके १६ भेद हो जाते हैं। अकषायवेदनीयकर्मके हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुंवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेदके रूपमें ९ भेद हैं। गुणस्थानोंकी चतुर्दश संख्याके निर्धारणमें दर्शनमोहनीयकर्मकी उक्त तीन और कषायवेदनीयकर्मकी १६ प्रकृतियोंका ही उपयोग है, अकषायवेदनीयकर्मकी ९ प्रकृतियोंका गुणस्थानोंकी चतुर्दश संख्याके निर्धारणमें उपयोग नहीं है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

दर्शनमोहनीयकर्मकी मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है।

जिस समय सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम गुणस्थानकी ओर आता है उस समय मिथ्यात्वकर्मका उदय न होकर प्रथमतः यदि अनन्तानुबन्धीकर्मका उदय होता है तो उस समय जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह द्वितीय सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव यदि द्वितीय सासादनसम्यग्दृष्टि होता है तो वह विसंयोजित अनन्तानुबन्धी प्रकृतियोंकी संयोजना करके उसके उदयमें होता है।

दर्शनमोहनीयकर्मकी सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह तृतीय सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है।

दर्शनमोहनीयकर्मकी उक्त तीन और अनन्तानुबन्धी कषायकी उक्त चार इस प्रकार सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षय या क्षयोपशम और अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयमें जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह चतुर्थ अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान है।

अप्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशममें जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह पंचम देशविरत गुणस्थान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशम और संज्वलनकषायके तीव्र उदयमें जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह षष्ठ प्रमत्तविरत गुणस्थान है।

औपशमिक, क्षयोपशमिक या क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवमें जब संज्वलनकषायका सामान्यरूपसे मंदोदय होता है तब जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है तब वह सप्तम स्वस्थानाप्रमत्त गुणस्थान कहलाता है तथा औपशमिक या क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवमें जब संज्वलन कषायका विशेषरूपसे मंदोदय होता है तब वह सातिशय-अप्रमत्त गुणस्थान कहलाता है। वह सातिशय-अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीव नियमसे अधःकरणरूप आत्मविशुद्धिको प्राप्त रहता है।

संज्वलनकषायके मन्दतर उदयमें औपशमिक या क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह अष्टम अपूर्वकरण गुणस्थान है। यह जीव नियमसे अपूर्वकरणरूप आत्मविशुद्धिको प्राप्त रहता है।

संज्वलन कषायके मन्दतम उदयमें औपशमिक या क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह नवम अनिवृत्तिकरण गुणस्थान है। इस अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें जीव अकषायवेदनीय प्रकृतियोंके साथ अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोंकी सम्पूर्ण प्रकृतियोंका यथायोग्य उपशम या क्षय करता है तथा संज्वलनकषायकी क्रोध, मान, माया प्रकृतियोंका भी यथायोग्य उपशम या क्षय करता है एवं संज्वलन लोभप्रकृतिका कर्षण भी करता है।

संज्वलनकषायकी सूक्ष्मताको प्राप्त लोभ प्रकृतिका उदय रहते हुए जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह दशम सूक्ष्मलोभ गुणस्थान कहलाता है।

दर्शनमोहनीयकर्मकी ३ और अनन्तानुबन्धी कषायकी ४ इन ७ प्रकृतियोंके उपशम अथवा क्षय तथा चारित्रमोहनीयकर्मकी शेष सभी प्रकृतियोंके उपशममें जीवकी भाववतीशक्ति जो परिणमन होता है वह ११वाँ उपशान्तमोह गुणस्थान है।

सम्पूर्ण मोहनीयकर्मके क्षयमें जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह १२वाँ क्षीणमोह गुणस्थान है।

यतः १२वाँ गुणस्थान सम्पूर्ण मोहनीयकर्मका क्षय होनेपर होता है और यह स्थिति जीवको १३वें और १४वें गुणस्थानोंमें भी रहती है, अतः इस आधारपर इन तीनों गुणस्थानोंमें समानता पाई जाती है तथापि १२वें गुणस्थानवर्ती जीवकी अपेक्षा १३वें और १४वें गुणस्थानवर्ती जीवोंमें यह विशेषता पाई जाती है कि उनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों कर्मोका सर्वथा क्षय होजानेके कारण जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप केवलज्ञान आदि गुणोंका विकास भी पाया जाता है। इसी प्रकार १३वें और १४वें गुणस्थानवर्ती जीवोंमें भी यह विशेषता पाई जाती है कि जहाँ १३वें गुणस्थानवर्ती जीवोंमें क्रियाशील पौद्गलिक मन, बोलनेके स्थानभूत वचन और कायके अवलम्बनसे उन जीवोंकी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप हलन-चलन क्रियारूप योग पाया जाता है वहाँ १४वें गुणस्थानवर्ती जीवोंमें पौद्गलिक मन, वचन और कायका सद्भाव रहते हुए भी उनके निष्क्रिय हो जानेसे योगका सर्वथा अभाव हो जाता है। इस प्रकार १४ गुणस्थानोंकी व्यवस्था निराबाध हो जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मबन्धका मूल कारण

जीव और पुद्गल दोनों द्रव्योंमें स्वभावतः भाववतीशक्तिके साथ क्रियावतीशक्ति भी पायी जाती है। उस क्रियावतीशक्तिके आधारपर ही जीव और पुद्गल दोनों द्रव्योंमें हलन-चलन क्रिया होती है। संसारी जीवोंमें क्रियाशील पौद्गलिक मन या वचन या कायके अवलम्बनसे जो हलन-चलन क्रिया होती है उसे ही योग कहते हैं और वह योग ही कर्मबन्धका मूल कारण है। उसका सद्भाव जीवोंमें प्रथमगुणस्थानसे लेकर १३वें गुणस्थानतक पाया जाता है, इसलिए उनमें विद्यमान जीवोंमें नियमसे प्रतिक्षण कर्मबन्ध होता रहता है। यतः १४वें गुणस्थानवर्ती जीवमें पौद्गलित मन, वचन और कायका सद्भाव रहते हुए भी उनके निष्क्रिय हो जानेसे योगका अभाव रहता है अतः वहाँ कर्मबन्ध नहीं होता।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमें जीवके जो आयुकर्मका बन्ध नहीं होता उसका कारण वहाँ योगकी अनुकूलताका अभाव है। तथा आदिके तीन गुणस्थानमें तीर्थंकर प्रकृतिका व आदिके छह गुणस्थानोंमें आहारकशरीर और आहारकअङ्गोपांगका जो बन्ध जीवके नहीं होता है उसका कारण वहाँ भी योगकी अनुकूलताका अभाव है। इसी प्रकार नीचे-नीचेके गुणस्थानोंमें बन्धको प्राप्त होनेवाली प्रकृतियोंकी ऊपर-ऊपरके गुणस्थानोंमें जो बन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है उसका कारण भी वहाँ योगकी तरतमताको ही माना जा सकता है।

कर्मबन्धके विषयमें यह भी ज्ञातव्य है कि आगममें बन्धके चार भेद बतलाये गये हैं—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध। आगममें यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगके आधारपर होते हैं व स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायोंके आधारपर होते हैं।

तात्पर्य यह है कि योगके आधारपर ज्ञानावरणादि कर्मवर्गणाओंका आस्रव होता है और उस आस्रवके आधारपर उन वर्गणाओंका आत्माके साथ जो सम्पर्क होता है उसका नाम प्रकृतिबन्ध है तथा वे कर्मबर्गणाएँ कितने-कितने परिमाणमें आत्माके साथ सम्पर्क करती हैं उसका नाम प्रदेशबन्ध हैं। फलतः प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध दोनोंको योगके आधारपर मान्य करना युक्त है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या ज्ञानावरणादि कर्मोंकी प्रकृतिका निर्माण योगके आधारपर होता है? तो ऐसा नहीं है, क्योंकि योगका कार्य ज्ञानावरणादि कर्मवर्गणाओंका आस्रवपूर्वक आत्माके साथ सम्पर्क कराना मात्र ही है अतएव यह स्वीकार करना होगा कि कर्मबर्गणाओंका जो ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन होता है वह उन वर्गणाओंमें विद्यमान उस-उस कर्मरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक द्रव्यभूत योग्यताके आधारपर होता है। इतनी बात अवश्य है कि वे वर्गणाएँ तभी ज्ञानावरणादिकर्मरूप परिणत होती हैं जब वे योगके आधार-पर आस्रवित होकर आत्माके साथ सम्पर्क करती हैं। इससे निर्णीत होता है कि ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंकी वर्गणाएँ पृथक्-पृथक् ही लोकमें व्याप्त हो रही हैं तथा योगके आधारपर उनका आस्रव होकर आत्माके साथ जो सम्पर्क होता है उसे ही प्रकृतिबन्ध कहना चाहिए। ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंकी वर्गणाओंके पृथक्-पृथक् होनेके कारण ही वे आठों कर्म कभी एक-दूसरे कर्मरूप परिणत नहीं होते हैं।

इसीप्रकार दर्शनमोहनीयकर्म चारित्रमोहनीयकर्मरूप और चारित्रमोहनीयकर्म दर्शनमोहनीयकर्मरूप कभी परिणत नहीं होते एवं चारों आयुकर्म भी कभी एक-दूसरे आयुकर्मरूप परिणत नहीं होते। इससे भी निर्णीत होता है कि दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय दोनों कर्मोंकी एवं चारों आयुकर्मोंकी वर्गणाएँ लोकमें पृथक्-पृथक् ही विद्यमान हैं। तथा उनका योगके आधारपर आस्रव होकर आत्माके साथ जो सम्पर्क होता है वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योगके आधारपर होता है। गोम्मटसार कर्मकाण्डमें जो "बहुभागे समभागो" इत्यादि गाथा १९५ पायी जाती है उसका आशय यही ग्रहण करना चाहिए कि योगके आधारपर एक साथ कर्मवर्गणाओंका जो आस्रव होता है वह आस्रव सबसे अधिक वेदनीयकर्मकी वर्गणाओंका होता है, उससे कम मोहनीयकर्मकी वर्गणाओंका होता है, उससे कम ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्मकी वर्गणाओंका होता है, उससे कम नाम और गोत्र कर्मकी वर्गणाओंका होता है और उससे कम आयुकर्मकी वर्गणाओंका होता है।

चारों आयुकर्मोंकी वर्गणाओंके विषयमें यह भी ज्ञातव्य है कि एक आयुकर्मकी वर्गणाओंके आस्रवके अवसरपर अन्य तीनों आयुकर्मोंकी वर्गणाओंका आस्रव नहीं होता, क्योंकि चारों आयुकर्मोंकी वर्गणाओंके आस्रवके लिए परस्पर विरुद्ध योग कारण होता है। फलतः जिस समय अनुकूल योगके आधारपर किसी एक आयुकर्मकी वर्गणाओंका आस्रव होता है उस समय अनुकूल योगका अभाव रहनेके कारण अन्य तीन आयु-कर्मोंकी वर्गणाओंका आस्रव नहीं होता है। इसी प्रकार चारों आयुकर्मोंकी वर्गणाओंके विषयमें यह भी ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार अन्य सात कर्मोंकी वर्गणाओंका आस्रव अनुकूल योगके सद्भावमें प्रतिसमय होता है उस प्रकार चारों आयुकर्मोंकी वर्गणाओंका आस्रव अनुकूल योगका अभाव रहनेके कारण प्रतिसमय न होकर कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्च जीवोंकी भुज्यमान आयुका त्रिभाग शेष रहनेपर व भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्च जीवोंकी भुज्यमान आयुका ९ माह शेष रहनेपर एवं देव और नारकीय जीवोंकी भुज्यमान आयुका छहमाह शेष रहनेपर ही होता है और तब भी अनुकूल योगका सद्भाव हो तो ही होता है अन्यथा नहीं। यहाँ सर्वत्र योगकी अनुकूलताका आधार अन्य अनुकूल निमित्त सामग्रीके समागमको ही समझना चाहिए।

सभी कर्मोंकी वर्गणाओंके आस्रवमें कारणभूत व आत्माकी क्रियावती शक्तिके परिणमन स्वरूप उक्त योग यद्यपि यथाप्राप्त क्रियाशील पौद्गलिक मन, वचन और कायके अवलम्बनपूर्वक होता है, परन्तु उस योगके साथ जबतक चारित्रमोहनीयकर्मके उदयके सद्भावमें यथायोग्य नोकर्मभूत निमित्तोंके सहयोगसे आत्मा-की भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप रागद्वेष होते रहते हैं तब तक आत्माके साथ सम्पर्कको प्राप्त सभी कर्मवर्गणाओंके स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध भी नियमसे होते रहते हैं।

कर्मरूप परिणत वर्गणाओंका आत्माके साथ यथासम्भव अन्तर्मुहूर्तसे लेकर यथायोग्य समय तक सम्पर्क बना रहना स्थितिबन्ध है और उनमें आत्माको फल प्रदान करनेकी शक्तिका प्रादुर्भाव होना अनुभागबन्ध है। इससे निर्णीत होता है कि कर्मवर्गणाओंका आत्माके साथ सम्पर्क होना अन्य बात है और उस सम्पर्कका किसी नियतकाल तक बना रहना अन्य बात है।

उपर्युक्त विवेचनके अनुसार मैं यह कहना चाहता हूँ कि ११वें, १२वें और १३वें गुणस्थानोंमें विद्यमान जीवोंके साथ जिस योगके आधारपर सातावेदनीयकर्मकी वर्गणाओंके प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होते हैं इसी योग के आधारपर श्री १०८ आचार्य विद्यासागरजी महाराजकी अकिंचित्कर पुस्तकके पृ० ७-८ पर उन जीवोंके साथ उसी सातावेदनीयकर्मकी उन वर्गणाओंके जो स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध बतलाये गये हैं व समर्थनमें तर्क और आगम वचन प्रस्तुत किये गये हैं यह सब मुझे सम्यक् प्रतीत नहीं होता है। इसका स्पष्टी-करण इस प्रकार है---

१. पूर्वमें किये गये संकेतके अनुसार जब जिस योगके आधारपर ज्ञानावरणादि कर्मोंकी वर्गणाओंका आस्रव होता है उसी योगके आधारपर तब उन वर्गणाओंका आत्माके साथ सम्पर्क भी होता हैं एवं वे वर्गणायें उस सम्पर्कके निमित्तसे ही ज्ञानावरणादिकर्मरूप परिणत होती हैं। फलतः यह सब विषय प्रकृतिबन्धकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिधिमें आता है तथा ज्ञानावरणादिकर्मरूप परिणत उन वर्गणाओंका आत्माके साथ उस सम्पर्कके यथासम्भव अन्तर्मुहूर्तसे लेकर सत्तर कोढ़ाकोढ़ी सागर पर्यन्त यथायोग्य काल तक बने रहनेकी योग्यताका विकास स्थिति-बन्धकी और उनमें जीवको स्वकीय फल प्रदान करनेकी योग्यताका विकास अनुभागबन्धकी परिधिमें आते हैं। इससे निर्णीत होता है कि जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप योगके आधारपर कर्मवर्गणाओंके आत्माके साथ प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होते हैं, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध नहीं होते। वे दोनों बन्ध उस-उस कषायके उदयमें यथायोग्य नोकर्मोंके सहयोगसे होनेवाले जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप राग-द्वेषके आधारपर ही होते हैं। आगममें जो प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धको योगके आधारपर व स्थिति-बन्ध और अनुभागबन्धको कषायके आधारपर बतलाया गया है उसका यही अभिप्राय है।

२. आगममें स्थितिबन्धका काल कषायके सद्भावमें सामान्यरूपसे कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त बतलाया गया है व विशेषरूपसे वेदनीयकर्मका १२ मुहूर्त, नाम और गोत्रका आठ मुहूर्त बतलाकर शेष कर्मोंका अन्तर्मुहूर्त बतलाया गया है जबकि कषायके अभावमें सातावेदनीयकर्मके बन्धका काल उन कर्मवर्गणाओंका आत्माके साथ सम्पर्क होने व उनकी समाप्ति होने रूपमें एक समय ही सिद्ध होता है। इसलिए स्थितिबन्धके बिना ११वें, १२वें और १३वें गुणस्थानोंमें बँधनेवाले सातावेदनीयकर्मकी उत्पत्ति और समाप्तिका काल एक समय मान्य करना ही युक्त है। फलतः गोम्मटसार कर्मकाण्डकी गाथा १०२ और उसकी संस्कृतटीकामें उन गुणस्थानोंमें सातावेदनीयकर्मके बन्धको जो एक समयकी स्थिति वाला बतलाया गया है उसका सम्बन्ध प्रकृतिबन्धसे ही समझना चाहिए, क्योंकि कषायका अभाव होनेसे वहाँ स्थितिबन्धका होना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार कषाय-का अभाव होनेसे वहाँ जब स्थितिबन्ध नहीं होता तो अनुभागबन्ध भी नहीं हो सकता है, क्योंकि वह भी कषायके सद्भावमें होता है। अतएव उदयका भी अभाव हो जानेसे वहाँ उसके फलका भोग जीवको नहीं होता। वहाँ जीवको जो सातावेदनीयकर्मके फलका भोग होता है वह भोग पूर्वमें बद्ध वेदनीयकर्मके फलका ही होता है।

कर्मबन्धकी प्रक्रिया

पहले आगमके अनुसार मोहनीयकर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके आधारपर जीवके गुण-स्थानोंकी जो व्यवस्था बतलायी जा चुकी है उससे निर्णीत होता है कि मोहनीयकर्मका उदय गुणस्थानोंकी व्यवस्थाका ही आधार है। वह उन गुणस्थानोंमें होनेवाले कर्मबन्धमें कारण नहीं होता। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थोंमें मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ही बन्धके कारण माने गये हैं। इसका आशय यह है कि मोहनीयकर्मके उदयमें कर्मबन्ध तो होता है परन्तु बन्धका कारण मोहनीयकर्मका उदय न होकर उस उदयमें निमित्तोंके सहयोगसे यथायोग्य रूपमें होनेवाले जीवके मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय एवं योग परिणमन ही हैं।

बन्धके कारणोंमें निर्दिष्ट मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका उपलक्षण है, क्योंकि जीवमें मिथ्यादर्शनके साथ नियमसे मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र पाये जाते हैं। अतः बन्धके कारणोंमें मिथ्यादर्शन शब्दसे मिथ्यादर्शनके साथ मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका भी समावेश होता है तथा उनमेंसे मिथ्याचारित्र ही बन्धका साक्षात् कारण है। यतः वह मिथ्याचारित्र, मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानपूर्वक होता है अतः परम्परया मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानको भी बन्धके कारण स्वीकार किया गया है।

मिथ्यादर्शनका अर्थ है अतत्त्वश्रद्धान। वह दो प्रकारका है—एक तो तत्त्वश्रद्धानका न होना और दूसरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतत्त्वका तत्त्वके रूपमें श्रद्धान करना। तत्त्वश्रद्धानके न होने रूप मिथ्यादर्शन एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीवोंमें पाया जाता है। परन्तु अतत्त्वका तत्त्वके रूपमें श्रद्धान करने रूप मिथ्यादर्शन केवल संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवोंमें ही पाया जाता है, क्योंकि अतत्त्वका तत्त्वके रूपमें श्रद्धान नोकर्मभूत हृदयके अवलम्बनसे होता है जो हृदय जैन सिद्धान्तके अनुसार संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवोंमें ही रहता है। मिथ्यादर्शनका जो मिथ्यापन है वह उस दर्शनमोहनीयकर्मकी मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें अनुकूल निमित्तोंके आधारपर होनेके कारण है।

इसीप्रकार मिथ्याज्ञानका अर्थ है अतत्त्वज्ञान। वह भी दो प्रकारका है—एक तो तत्त्वज्ञानका न होना और दूसरा अतत्त्वका तत्त्वके रूपमें ज्ञान करना। तत्त्वका ज्ञान न होने रूप मिथ्याज्ञान भी एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञीपंचेन्द्रिय तकके जीवोंमें पाया जाता है। परन्तु अतत्त्वका तत्त्वके रूपमें ज्ञान करने रूप मिथ्यादर्शन पूर्वक होनेवाला मिथ्याज्ञान केवल संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवोंमें ही पाया जाता है, क्योंकि अतत्त्वका तत्त्वके रूपमें श्रद्धान नोकर्मभूत मस्तिष्कके अवलम्बनसे होता है और वह मस्तिष्क जैनसिद्धान्तके अनुसार संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवोंमें ही रहता है। यहाँ भी मिथ्याज्ञानका जो मिथ्यापन है वह उस मिथ्याज्ञानके मिथ्यादर्शनपूर्वक होनेके कारण है।

मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान दोनों जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन है तथा दोनों दर्शनमोहनीय कर्मके भेद मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयके आधारपर निर्मित मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्ती जीवमें ही एक साथ पाये जाते हैं।

मिथ्याचारित्रके विषयमें यह ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान पूर्वक जीवकी क्रियावतीशक्तिके परिणमन स्वरूप जो क्रिया-व्यापार उस मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती जीवका होता है उसे ही मिथ्याचारित्र कहा जाता है और उसका उत्पादन चारित्रमोहनीयकर्मके भेद अनन्तानुबन्धी कषायके उदयके प्रभावमें अनुकूल निमित्तोंके आधारपर होनेवाले जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप राग-द्वेषके अनुसार होता है।

यह मिथ्याचारित्र एकेन्द्रिय जीवमें नोकर्मभूत काय (शरीर) के अवलम्बनसे, द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञी-पंचेन्द्रिय तकके जीवोंमें नोकर्मभूत काय और बोलनेके आधारभूत वचनके अवलम्बनसे एवं संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवोंमें नोकर्मभूत काय, वचन और मन तीनोंके अवलम्बनसे होता है।

उपर्युक्त विवेचनसे यद्यपि यह स्पष्ट होता है कि दर्शनमोहनीयकर्मके भेद मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें जीव मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती है और उस जीवके ही अनुकूल निमित्तोंके आधारपर मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र होते हैं। परन्तु वे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र उस जीवमें मिथ्यात्वकर्मके उदयके सद्भावमें नियमसे नहीं होते, क्योंकि मिथ्यात्वकर्मके उदयमें मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती कोई-कोई संज्ञीपंचेन्द्रिय भव्य और अभव्य जीव यदि निमित्त मिलनेपर हृदयके अवलम्बनसे व्यवहारसम्यग्दर्शन और मस्तिष्कके अवलम्बनसे व्यवहारके सम्यग्ज्ञानको प्राप्त होते हैं, तो उनका क्रिया-व्यापार मिथ्याचारित्र रूप न होकर या तो अविरतिरूप होता है या उनके देशविरति हो जानेपर शेष देश अविरतिरूप होता है अथवा उनके महाविरति हो जानेपर २८ मूलगुणोंमें प्रवृत्तिरूप होता है। फलतः मेरी समझके अनुसार मिथ्यात्वकर्मके उदयमें मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती संज्ञीपंचेन्द्रिय उन भव्य और अभव्य जीवोंको जो कर्मबन्ध होता है वह या तो अविरतिरूप क्रिया-व्यापारके आधारपर होता है या उनके देशविरति हो जानेपर शेष एकदेश अविरतिरूप क्रिया-व्यापारके आधारपर होता है या उनके महाविरति हो जानेपर २८ मूलगुणों में प्रवृत्तिरूप क्रिया-व्यापारके आधारपर होता है। अतएव उस क्रिया-व्यापारके मिथ्याचारित्ररूप न होनेके कारण उनको होनेवाला कर्मबन्ध मिथ्याचारित्रके आधारपर नहीं होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि ऐसा न माना जावे तो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती अभव्य जीवोंको मिथ्याचारित्ररूप क्रिया-व्यापारके अभावमें जो क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्यलब्धियोंकी प्राप्ति होती है एवं भव्य जीवोंको उक्त चार लब्धियोंके साथ जो करणलब्धिकी प्राप्ति होती है वह सब नहीं हो सकेगी। इसका परिणाम यह होगा कि मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती संज्ञीपंचेन्द्रिय भव्य जीव उस करणलब्धिके आधारपर जो दर्शनमोहनीय-कर्मकी तीन और चारित्रमोहनीयकर्मके भेद अनन्तानुबन्धी कषायकी चार इसप्रकार सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षय या क्षयोपशम करता है, अथवा उक्त ७ प्रकृतियोंके उपशम, क्षय या क्षयोपशमके साथ जो अप्रत्याख्याना-वरणचतुष्कका क्षयोपशम करता है अथवा इसके भी साथ जो प्रत्याख्यानावरणचतुष्कका क्षयोपशम करता है यह सब वह नहीं कर सकेगा। अतएव मानना पड़ता है कि भव्य और अभव्य दोनों ही प्रकारके संज्ञी-पंचेन्द्रिय जीव मिथ्यात्वकर्मके उदयमें मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमें रहते हुए भी अनुकूल निमित्तोंका योग मिलनेपर व्यवहारसम्यग्दृष्टि और व्यवहारसम्यग्ज्ञानी होकर जब मिथ्याचारित्ररूप क्रियाव्यापार नहीं करते हैं तो वे यथायोग्य अविरत या देशविरत या महाव्रती हो जाते हैं एवं इस आधारपर ही अभव्य जीव क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्यलब्धियोंको प्राप्त कर लेते हैं तथा भव्य जीव उक्त लब्धियोंके साथ करण-लब्धिको भी प्राप्त कर लेते हैं।

समयसारकी गाथा २७५ से भी यही ध्वनित होता है कि अभव्य जीव भी धर्मका श्रद्धान करता है, उसका ज्ञान करता है, उसमें रुचि करता है और उसको अपनाता भी है। परन्तु उसकी अभव्यताके कारण वह भेदविज्ञानो नहीं हो सकता। अतएव उससे वह सांसारिक भोग ही पाता है। यद्यपि वह यह सब मोक्ष पानेकी भावनासे ही करता है, परन्तु वह जब भेदविज्ञानी नहीं होता, तो मोक्षमार्गी नहीं बन सकता।

इस विवेचनसे यही समझमें आता है कि अविरतिरूप क्रियाव्यापार करनेवाले व्यवहारसम्यग्दृष्टि और व्यवहारसम्यग्ज्ञानी प्रथम गुणस्थानवर्ती अभव्य जीव तथा अविरतिरूप क्रियाव्यापार करनेवाले प्रथम गुणस्थानसे लेकर चतुर्थ गुणस्थान तकके भव्य जीव जो कर्मबन्ध करते हैं वह वे अविरतिरूप क्रिया व्यापारके आधारपर ही करते हैं तथा प्रथम गुणस्थान तकके वे ही भव्य जीव और प्रथमगुणस्थानसे लेकर पंचमगुणस्थान तकके वे ही भव्यजीव देशविरत होनेपर जो कर्मबन्ध करते हैं वह वे शेष एकदेशअविरतिरूप क्रियाव्यापारके आधार पर करते हैं एवं प्रथमगुणस्थानवर्ती वे ही अभव्य जीव और प्रथम गुणस्थानसे लेकर षष्ठ गुणस्थान तकके वे ही भव्य जीव महाव्रती हो जानेपर जो कर्मबन्ध करते हैं वह वे २८ मूलगुणोंमें प्रवृत्तिरूप क्रियाव्यापारके आधारपर करते हैं। प्रथमगुणस्थानसे लेकर षष्ठ गुणस्थान पर्यन्तके जीवोंमेंसे द्वितीय और तृतीयगुणस्थानवर्ती जीवोंमें जो विशेषताएँ आगममें प्रतिपादित की गई हैं वे करणानुयोगकी अपेक्षासे ही हैं, चरणानुयोगकी अपेक्षासे नहीं, जबकि कर्मबन्धको व्यवस्था चरणानुयोगकी प्रक्रियापर हो आधारित है, क्योंकि जीवोंको जो कर्मबन्ध होता है वह क्रियाशील नोकर्मभूत मन, वचन और कायके अवलम्बनसे जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप क्रिया-व्यापारके आधारपर ही होता है। इतना अवश्य है कि वह कर्मबन्ध मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानपूर्वक मिथ्या-चारित्ररूप क्रियाव्यापारके आधारपर भी होता है तथा व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञानपूर्वक अविरतिरूप या क्रियाव्यापारके आधारपर एकदेश अविरतिरूप क्रियाव्यापारके आधारपर अथवा २८ मूलगुणोंमें प्रवृत्तिरूप क्रियाव्यापारके आधारपर होता है। वे अविरतिरूप या एकदेशअविरतिरूप या २८ मूलगुणोंमें प्रवृत्तिरूप सभी क्रियाव्यापार नियमसे व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञानपूर्वक ही जोवोंमें पाये जाते हैं और ये सभी क्रियाव्यापार क्रियाशोल नोकर्मभूत मन, वचन और कायके आधारपर होनेवाले जीवकी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप ही हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान एवं व्यवहार सम्यग्ज्ञान ये सभी यथायोग्य नोकर्मभूत हृदय और मस्तिष्कके सहारेपर होने वाले जीवकी भाववती शक्तिके ही परिणमन हैं, परन्तु वे चरणानुयोगकी प्रक्रियामें ही अन्तर्भूत होते हैं।

उक्त विवेचनसे यह भी ज्ञात होगा है कि मिथ्याचारित्र और अविरतिरूप दोनों क्रियाव्यापारोंमें अन्तर है, क्योंकि जहाँ मिथ्याचारित्र, मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान पूर्वक होता है वहाँ अविरति व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्ज्ञानपूर्वक होती है। जहाँ मिथ्याचारित्र आसक्तिवश होनेके कारण संकल्पी पाप माना जाता है वहाँ अविरति अशक्तिवश होनेके कारण आरम्भी पाप माना जाता है। मिथ्याचारित्र और अविरतिके अन्तरको इसप्रकार भी समझा जा सकता है कि मिथ्याचारित्रका सद्भाव प्रथमगुणस्थानमें ही रहता है क्योंकि वह मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानपूर्वक ही होता है। इसके विपरीत अविरतिका सद्भाव व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञानपूर्वक होनेके कारण प्रथम गुणस्थानसे लेकर चतुर्थ गुणस्थान तकके जीवोंमें आगम द्वारा स्वीकार किया गया है।

इन सब बातोंको ध्यानमें रखकर ही ऊपर बन्धके कारणोंमें मिथ्याचारित्र और अविरतिको पृथक्-पृथक् रूपमें ही सम्मिलत किया गया है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि कर्मबन्धमें कारणभूत मिथ्याचारित्र, अविरति, एकदेशअविरति और २८ मूलगुणोंमें प्रवृत्तिरूप सभी क्रियाव्यापार नोकर्मभूत मन, वचन और कायके अवलम्बनसे होनेवाले जीवकी क्रियावतीशक्तिके परिणमनोंके रूपमें योग ही है। परन्तु ये सभी चारित्रमोहनीयकर्मकी उस-उस प्रकृतिके उदयमें यथायोग्य नोकर्मोंके अवलम्बनसे होनेवाले जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन स्वरूप राग और द्वेषसे प्रभावित रहते हैं एवं जबतक उनका प्रभाव उक्त योगोंपर बना रहता है तबतक उन योगोंके आधारपर कर्मोंके प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धके साथ स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध नियमसे होते रहते हैं।

यतः ११वें, १२वें और १३वें गुणस्थानोंमें केवल स्वतन्त्र योग ही बन्धका कारण शेष रह जाता है, अतः उससे कर्मोंके केवल प्रकृति और प्रदेशबन्ध ही होते हैं, स्थिति और अनुभागबन्ध नहीं होते।

यद्यपि बन्धके कारणोंमें मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानका ही समावेश है, परन्तु पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि वे दोनों कर्मोंके बन्धमें साक्षात्कारण नहीं होकर परंपरया ही कारण होते हैं, क्योंकि उनकी बन्धकारणता बन्धके कारणभूत मिथ्याचारित्रका उत्पादन करना ही है। दूसरी बात यह है कि मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान ये दोनों जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन हैं, इसलिए इनका कर्मबन्धके मूलकारणभूत जीवकी क्रियावतीशक्तिके परिणमन स्वरूप योगमें अन्तर्भाव नहीं होता है।

बन्धका साक्षात्कारण जो मिथ्याचारित्र है वह मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानपूर्वक ही होता है और उसका सद्भाव प्रथम गुणस्थानमें ही रहता है, आगेके गुणस्थानोंमें नहीं। बन्धके कारणोंमें जो अविरति और शेष एकदेश अविरति एवं २८ मूलगुणोंमें प्रवृत्तिरूप प्रमाद सम्मिलित है वे भी प्रथमगुणस्थानमें पाये जा सकते हैं, परन्तु वह अविरति जीवन-संरक्षणमें उपयोगी आरम्भी पापोंके रूपमें मानी जा सकती है, जीवनके लिए अनुपयोगी और हानिकर अनैतिक आचरणरूप संकल्पी पापोंके रूपमें नहीं, क्योंकि अनैतिक आचरणरूप संकल्पी पापोंका अन्तर्भाव मिथ्याचारित्रमें ही होता है।

अविरति तृतीय और चतुर्थ दोनों गुणस्थानोंमें समानरूपसे पायी जाती है, परन्तु तृतीय गुणस्थानमें पायी जानेवाली अविरतिमें यह विशेषता रहती है कि वहाँ उसका सद्भाव दर्शनमोहनीयकर्मके भेद सम्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्मिथ्यात्वके उदयमें नोकर्मभूत हृदयके अवलम्बनसे होनेवाले व्यवहार सम्यग्मिथ्यात्वसे प्रभावित रहता है। इस अविरतिका उत्पादन प्रथम, तृतीय और चतुर्थ गुणस्थानोंमें व्यवहार सम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञान-पूर्वक ही होता है।

द्वितीय गुणस्थानमें मिथ्यात्वकर्मके उदयका अभाव रहनेके कारण मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानका अभाव हो जानेसे यद्यपि मिथ्याचारित्रका अभाव पाया जाता है तथापि अनन्तानुबन्धी कर्मका उदय रहनेके कारण नोकर्मभूत मनके अवलम्बनपूर्वक जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप राग या द्वेषपूर्वक अनैतिक आचाररूप संकल्पीपापके रूपमें अविरति वहाँ भी पायी जाती है। व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञानका अभाव रहनेके कारण आरम्भी पापरूप अविरतिका वहाँ अभाव ही माना जा सकता है।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवमें आरम्भी पापरूप अविरति तो रहती ही है परन्तु एकदेश अविरति या २८ मूलगुणोंमें प्रवृत्तिरूप प्रमादका सद्भाव भी वहाँ संभव है। इसी प्रकार पंचम गुणस्थानवर्ती जीवमें एकदेश अविरति तो रहती है, परन्तु उसमें २८ मूलगुणोंमें प्रवृत्तिरूप प्रमाद भी सम्भव है। षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीवमें बन्धका कारण केवल २८ मूलगुणोंमें प्रवृत्तिरूप प्रमाद ही पाया जाता है और वह वहाँ नियमसे पाया जाता है।

सप्तम गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थानतकके जीवोंमें बन्धका कारण संज्वलन कषायके यथायोग्य मन्द, मन्दतर और मन्दतमरूपमें होनेवाले उदयके आधारपर यथायोग्य नोकर्मोंके अवलम्बनसे जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप यथासम्भव राग और द्वेषसे प्रभावित मानसिक, वाचनिक और कायिक योग ही होता है और वहाँ उसका सद्भाव अव्यक्तरूपमें ही पाया जाता है।

इस लेखके अन्तमें मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि श्री पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनीका एक लेख "कर्मबन्ध और उसके कारणोंपर विचार" शीर्षकसे "वीरवाणी" पत्रिकाके वर्ष ४०, अंक ९ व संयुक्त अंक ११-१२ में प्रकाशित हुआ है। उसमें पं० जीने कुछ विषयको संशयरूपमें, कुछ विषयको अनध्यवसाय एवं कुछ विषयको विपर्ययरूपमें भी निबद्ध किया है उसका समाधान भी मेरे इस लेखसे हो सकता है, ऐसा विश्वास है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org